

इकाई 9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य का महत्व

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 महाकवि सूरदास और उनका युग

9.3 अष्टछाप और सूरदास

9.4 भक्ति आंदोलन और सूरदास

9.4.1 भक्ति आंदोलन में कृष्णभक्ति द्वारा

9.4.2 सगुण-निर्गुण द्वन्द्व में सूर की भूमिका

9.5 सूर काव्य में प्रेमाभक्ति

9.6 सूरदास की भाषा और रूप विधान

9.6.1 सूर की काव्य भाषा

9.6.2 सूर काव्य का रूप विधान

9.6.3 सूर काव्य में प्रगीतात्मकता

9.7 सारांश

9.8 अभ्यास/प्रश्न

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ खंड 3 की पहली इकाई है। इसमें सगुण काव्य के प्रतिनिधि कवि सूरदास का महत्व प्रतिपादित किया जाएगा। इसे पढ़ने के बाद आप :

- कवि सूरदास, अष्टछाप और उनके युग का परिचय प्राप्त कर सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन में सूरदास का महत्व प्रतिपादित कर सकेंगे,
- सूर काव्य में प्रेमाभक्ति का निरूपण कर सकेंगे, और
- सूर काव्य की भाषा और रूपविधान को स्पष्ट कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

सूरदास भक्ति युग के प्रमुख कवि हैं। ये कृष्णभक्ति काव्य परंपरा के सिरमौर हैं। अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान प्रमुख है। सूर की काव्यात्मक विशिष्टता और उत्कृष्टता का आधार है --

- क) संगीत का कलात्मक उपयोग
- ख) ब्रजभूमि की लोकसंस्कृति का आत्मसातीकरण
- ग) वात्सल्य चित्रण
- घ) स्त्री-पुरुष संबंधों का स्वच्छंद चित्रण।

सूर भक्त कवि और कृष्ण के उपासक हैं। पुष्टिमार्गी होने के कारण सूर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी। इसमें समर्पण को ही सब कुछ माना गया है। सूर ने अपने काव्य में उपास्य कृष्ण के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिए उनके रूप, व्यक्तित्व, परिवेश, क्रियाकलाप, लीला आदि का चित्रण सहज मानवीय रूप में किया है।

इस इकाई में इन पक्षों पर विचार करने के साथ-साथ सूर की भाषा और शिल्प पर भी विचार किया गया है। 'सूरदास की भाषा और रूपविधान' के अंतर्गत सूर की काव्य भाषा और रूपविधान पर विचार किया गया है। सूरदास ब्रजभाषा में कविता रचने वाले पहले प्रमुख कवि हैं। उन्होंने ब्रज प्रदेश को

लोक संस्कृति और वाचिक परंपरा की उत्कृष्टता प्रदान की और उसे कलात्मक उत्कर्ष प्रदान किया। संगीतात्मकता उनके काव्य का अप्रतिपम गुण है। इसमें एक कथा है पर यह प्रबंध-काव्य नहीं है। सूरसागर के कथानक की विश्रृंखला इसका प्रमुख कारण है। आइए इन पक्षों पर विस्तार से विचार किया जाए।

9.2 महाकवि सूरदास और उनका युग

सूरदास के जीवन-वृत्त के संबंध में डॉ. दीन दयाल गुप्त और डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा के निष्कर्षों को प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। उल्लिखित विद्वानों के अनुसार सूरदास का जन्म 1478 ई. में हुआ था और उनकी मृत्यु तिथि अनुमानतः 1577 ई. और 1581 ई. के बीच पड़ती है।

भक्तिकाल के किसी भी कृतिकार के जीवन-वृत्त से संबंधित तथ्यों को लेकर अभी भी विवाद बना हुआ है। इस नोकझोंक में पड़े बगैर इस सर्वमान्य तथ्य के आधार पर हमें उस युग की विवेचना करनी चाहिए कि सूरदास के पदों की रचना पन्द्रहवीं सदी के अंतिम दशक में आरंभ हुई होगी और उनकी रचनाशीलता सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक निःसंदिग्ध रूप से जारी रही होगी। सूरदास की रचनाओं से यह ज़ाहिर होता है कि वे निरगुनिया संतों के काव्य से परिचित थे। प्रेममार्गी सूफी काव्यधारा से सूर परिचित थे या नहीं - इस बात की तरफ कहीं से कोई संकेत नहीं मिलता है। भक्तिकालीन रचनाकारों के आपसी संबंधों को लेकर फैले प्रवादों में यह बात भी प्रचलित है कि किसी समय सूर और तुलसी की भेंट हुई थी। इस प्रवाद की पुष्टि अभी तक नहीं हुई है।

ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति से संबंधित गीत, गायन, कीर्तनकाव्य और संगीत की यह मिली-जुली परंपरा सूरदास को कहाँ से मिली? आप लोगों ने यह अवश्य ही सुना या पढ़ा होगा कि राधाकृष्ण से संबंधित भक्तिगीत की कीर्तन परंपरा के सूत्रपात में जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य का बहुत बड़ा योगदान है। आपने यह भी सुना होगा कि सूरदास पहले दैन्य और विनय के पद ही गाते थे। जब महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई तो आचार्य जी ने उनसे कहा : धिधियाते क्यों हो, भगवान की लीला का गान करो। इसके बाद से सूरदास के भक्तिगीतों में दास्य भाव और आत्मदीनता की प्रवृत्ति समाप्त हो गई और वे सख्य भाव से प्रेमभक्ति के गीत गाने लगे। वल्लभाचार्य की प्रेरणा से ही सूरदास श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णकथा को गीत-संगीत में रूपांतरित करने लगे। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के लोकमंगलकारी और लोकरक्षक व्यक्तित्व की भी कुछ छटाएँ और छवियाँ हैं। अतः सूरसागर में संकलित आपको सैकड़ों ऐसे पद मिलेंगे जिन्हें कृष्ण लोगों की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत उठाए हुए मिलेंगे, कालिया नाग को नियंत्रित करते हुए मिलेंगे; कंस का वध करते हुए दिखाई पड़ेंगे, जनसाधारण को पीड़ित करने वाले राक्षसों का दमन करने वाले स्वरूप में उपस्थित होंगे, महाभारत के योद्धा रूप में विस्मित कर रहे होंगे। पर सूरदास की काव्य-प्रतिभा का चमत्कार आपको ऐसे आख्यान-प्रसंगों में कम ही दिखाई पड़ेगा। सूरदास का मन रमता है राधाकृष्ण, गोप-गोपिका, नंद-य तोदा और ब्रज की हरीभरी प्रकृति की जीवन्त क्रियाओं और मनोरम रूपों के चित्रण में। सूर की चित्रण-शैली में ब्रज की लोकसंस्कृति लिपटी हुई चली आती है तथा सूर के स्वर-संगीत में जनभाषा के रूप में ब्रजभाषा की मृदुता की और मधुरता की कलकल ध्वनि सुनायी पड़ती रहती है।

संगीत के नवोत्थान और मध्यकालीन भारत के लोकजागरण के बीच बड़ा गहरा संबंध है। सूरदास उस युग की नवोन्मेषकारी सांस्कृतिक प्रक्रिया और नयी भावधारा के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

कबीर, जायसी और तुलसी की तुलना में सूरदास की एक अलग किस्म की विशिष्टता इस जातीय संगीत के नवोत्थान के संदर्भ में समझी जानी चाहिए और इसकी सांगोपांग विवेचना के बाद ही सूर के प्रगीतात्मक काव्य के वास्तविक महत्व का पूरा खुलासा होगा। सूर के काव्य को नृत्य, रास, वाद्यसंगीत, गायकी और ब्रज लोकगीत के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। यह युग पुरन्दर दास, त्यागराज, तानसेन, तैजू बावरा, स्वामी हरिदास जैसे महान कलाकारों का था। सूरदास ललित कलाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान और घनिष्ठ अंतःक्रिया के साक्षी थे। बल्कि उनकी स्वयं की सृजनात्मक कला

का विकास इसी प्रक्रिया के अंदर से हुआ था। अतः सूर-साहित्य का समालोचना के कलात्मक और ऐतिहासिक संबंधों पर अलग से भी विचार करने की आवश्यकता है।

भक्ति आंदोलन के संदर्भ
में सूर काव्य का महत्व

भक्तिकाव्य के विवेचन में हिन्दी समालोचना चाहे तो इतिहास के राजनीतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य पर एकांगी रूप से निर्भर कर जाती है, या शास्त्रीय वाद-विवाद, भाष्य और टीका की उद्धरणी पर अवलम्बित हो जाती है। बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में नया जागरण और कलात्मक उत्कर्ष आया - इसे नये विश्लेषण और विवेचन का प्रस्थान बिंदु नहीं बनाया जाता।

9.3 अष्टछाप और सूरदास

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य को सबसे अधिक प्रेरणा देने वाले महाप्रभु वल्लभाचार्य (1478 ई. - 1530 ई.) पुष्टिमार्ग के संस्थापक और प्रवर्तक थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके दूसरे पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (1515 ई. 1585 ई.) पुष्टि संप्रदाय के आचार्य के पद पर आसीन हुए। उनकी बाल्यावस्था अरैल में व्यतीत हुई थी किंतु सन् 1566 ई. में अर्थात् 51 वर्ष की उम्र में ब्रज में आ बसे थे। इसी साल उन्हें सम्राट अकबर की ओर से एक फरमान प्राप्त हुआ जिसके अनुसार गोकुल की भूमि उन्हें माफी में धर्मार्थ के निमित्त मिल गई थी।

श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा, भोग, उत्सव आदि की व्यवस्था करते हुए उन्होंने पुष्टि संप्रदाय के प्रचार में पर्याप्त योगदान किया था। गोस्वामी विट्ठलनाथ की पहल पर ही अष्टछाप का संगठन किया गया था। उनके पिता के चार शिष्य - कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, और कृष्णदास पहले से ही तैयार थे। अब स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ के चार शिष्य - चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और नन्ददास भी नया कार्यभार स्वीकार करने के योग्य हो गये थे। अतः इन आठों को लेकर अष्टछाप का गठन किया गया। वस्तुतः ये आठ भक्त श्रीकृष्ण के अष्टसखा के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

सूरदास के समान ही परमानन्ददास भी पुष्टिमार्ग में दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ही कवीश्वर, संगीतकार और कीर्तनकार के रूप में अपनी क्षमता और प्रतिभा प्रमाणित कर चुके थे। इसी तरह कुंभनदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के निकट संपर्क में बहुत पहले से थे और पुष्टिमार्ग में दीक्षा प्राप्त कर चुके थे। 'भक्तन को कहा सीकरी सों काम' वाला लोकप्रसिद्ध पद इन्हीं का है। अष्टछाप के चौथे कवि और कीर्तनकार कृष्णदास थे। वे जाति से शूद्र थे, पर महाप्रभु ने उन्हें मंदिर का भेंटिया बनाया था। कविता में वे सूरदास से टक्कर लेते थे।

अष्टछाप के अन्य चार कवियों में सर्वाधिक ख्याति नन्ददास को मिली है। भ्रमरगीत परंपरा की प्रगीत रचना में कलात्मक योगदान की दृष्टि से भी नन्ददास की महत्ता स्वीकार की जाती है। छोटे भक्त श्री चतुर्भुजदास थे जो अपने पिता श्री कुंभनदास की भाँति गृहस्थ जीवन बिताते हुए श्रीनाथ जी की सेवा में सदैव तत्पर रहते थे। भक्ति और कविता -दोनों उन्हें उत्तराधिकार में मिली थी। सातवें भक्त गोविन्दस्वामी भी प्रगीतात्मक पदावली के रचयिता और अच्छे गायक थे। संगीत में उन्हें दक्ष माना गया है। यह भी जनश्रुति है कि प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन उनसे संगीत की शिक्षा लेने आते थे। अंतिम भक्त और कवि छीतस्वामी थे। कहते हैं कि उनके पद सुनने के लिए अकबर वेश बदलकर उनके पास आते थे।

सम्पूर्ण भक्ति-आंदोलन में किसी आचार्य के नियंत्रण में कवियों-गायकों और कीर्तनकारों के किसी संगठित मंडल का उल्लेख नहीं मिलता है। अष्टछाप जैसा समूह बाद में भारतेंदु मंडल, मतवाला मंडल, प्रगतिशील लेखक संघ या इष्टा के रूप में आधुनिक काल में ही प्रचलन में आया। 1499 ई. से 1583 ई. के बीच तक अर्थात् लगभग 84 वर्ष तक अष्टछापी भक्त कवियों का अस्तित्व रहा। डॉ. गोवर्धन नाथ शुक्ल ने 'अष्टछाप का सांप्रदायिक पक्ष' नामक अपने निबंध में बताया है कि "अष्टछाप की स्थापना भगवान श्रीनाथ जी की अष्टयाम रागसेवा के निमित्त हुई थी।" उक्त शोध निबंध में डॉ.

शुक्ल की तरफ से यह सूचना भी दर्ज है कि श्रीनाथ जी के मंदिर में ध्रुपद-धमार पद्धति पर लीला-कीर्तन का प्रबंध गोस्वामी विट्ठलनाथ की व्यवस्था के अंतर्गत किया गया था। चूंकि यह मंदिर पहाड़ की चोटी पर था, अतः स्थानीय जनसाधारण का नियमित तौर पर दर्शन-पूजन आदि संभव ही नहीं था। अष्टछाप के कीर्तनकारों द्वारा श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित प्रसंगों के आधार पर ही लीलागान होता था। महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में सूरदास और गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में नंददास को छोड़कर शेष छह कवि गायकों ने विष्णुपद छंदों में ही लीलागान किया है। विष्णुपद छंद ब्रज की ध्रुपद शैली के लिए उपयुक्त माना जाता था। विष्णुपद छंद के अतिरिक्त इन कवि गायकों ने गहरी तन्मयता में भाव-विभोर होकर धमार, होरी आदि भी रचे हैं।

अष्टछाप के कवि गायक जिस समय ध्रुपद धमार शैली में गीतकीर्तन रच रहे थे, उन्हीं दिनों समानान्तर रूप से फतहपुर सीकरी के शाही महल में खयाल शैली के तहत कुछ खास तरह के 'रसिया' गाने की प्रथा चल पड़ी थी। जब तक अष्टछाप के कवि गायक जीवित रहे तब तक तो रसिया की यह प्रथा श्रीनाथ जी के मंदिर में पहुंच नहीं पायी। परन्तु अष्टछापी कवियों तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ की मृत्यु के बाद रसिया गाने की प्रथा श्रीनाथ जी के मंदिर में भी धीरे-धीरे पहुंच गयी।

9.4 भक्ति आंदोलन और सूरदास

भक्ति की भावधारा की एक सामान्य प्रवृत्ति भक्ति आंदोलन के सभी रचनाकारों में असंदिग्ध रूप में मिलती है। इस सामान्य प्रवृत्ति की अनिवार्य उपस्थिति के कारण ही आपको बार-बार बताया गया है कि सूरदास एक भक्त कवि थे। वे ऐसे भक्त थे जिसके इष्टदेव के दरबार में जातपाँत के आधार पर कोई भेदभाव न था। इस प्रकार की वैचारिक निष्ठा जातपाँत और धर्म-मजहब के भेदभाव से जर्जर हो रहे तत्कालीन समाज के भौतिक अस्तित्व के लिए ऐतिहासिक आवश्यकता बन गई थी। इस आवश्यकता के प्रति कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की सम्मिलित सहमति थी - यही वह लोकसामान्य भावभूमि थी जो इन चारों भक्त कवियों को एक-दूसरे से जोड़ती थी। भक्ति आंदोलन के रचनाकारों के बीच जनभाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के सवाल पर भी समान ढंग की प्रतिबद्धता और सहमति थी। इसीलिए आप यह देखते हैं कि सूरदास उस जनभाषा में अपनी कविता रच रहे थे जो साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अपरिष्कृत और पिछड़ी हुई थी; यद्यपि अपनी प्रगीत परंपरा के लिहाज से ब्रजभाषा लोक कंठों में रची बसी हुई थी और इसी वजह से सुमधुर हो गई थी। अन्य भक्त कवियों के समान सूरदास भी शास्त्रीयता के आग्रह और उसकी जकड़बंदी से मुक्त थे तथा अपने जमाने के गृहस्थ आश्रम में रहने वाले लोकसमाज को संबोधित कर अपने पदों की रचना कर रहे थे।

उपर्युक्त तीन सामान्य प्रवृत्तियों के कारण ही सूरदास की इतनी ख्याति नहीं है। सूर की अपनी कुछ निजी विशिष्टताएं भी हैं जो उन्हें भक्तिकाल के क्लासिक कृतिकार का दर्जा प्रदान करने में अन्यतम महत्व रखती हैं। इन निजी विशिष्टताओं में चार बातों का उल्लेख अवश्य ही होना चाहिए - संगीत का कलात्मक उपयोग, ब्रजभूमि की लोकसंस्कृति का आत्मसातीकरण, वात्सल्य चित्रण और स्त्री-पुरुष संबंधों में स्वच्छंदता अथवा उन्मुक्तता का अनुमोदन। भक्तिकाव्य में जीवनदशाओं की बहुरंगी छवियों के अंकन से जो रागात्मक समृद्धि आयी है, उसके मूल स्रोत की खोज करने पर पता चलता है कि सूर के समान प्रायः सभी रचनाकारों की ऐसी ही निजी विशिष्टताएं हैं जो संवेदनाओं के विस्तार में निःसंदिग्ध रूप से सहायक सिद्ध हुई हैं। अगर भक्ति आंदोलन से सूरदास के काव्य को निकाल दिया जाए तो वह एकांगी और विकलांग प्रतीत होगा। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि भक्तिकाव्य के विकास और उसके रागात्मक वैविध्य में सूरदास का कितना निर्णायक महत्व है।

सूरकाव्य के कलात्मक और ऐतिहासिक महत्व का वस्तुगत ढंग से समुचित मूल्यांकन के लिहाज से यह जरूरी है कि आप पहले यह जानने का प्रयत्न करें कि भक्तिकाव्य में कृष्णभक्तिधारा का क्या महत्व है।

9.4.1 भक्ति आंदोलन में कृष्णभक्ति धारा

भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य का महत्त्व

कृष्ण कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे या पुराणकारों की कल्पनामूर्ति - इस विवाद से अभी तक धर्मशास्त्र और इतिहास को छुटकारा नहीं मिल पाया है। कृष्ण, (आगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख स्तुतियों की रचना करने वाले ऋषि के रूप में ऋग्वेद में पाया जाता है; इसके बाद छांदोग्य उपनिषद, महाभारत, जातक कथा, भागवत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में थोड़े विस्तार से मिलता है। साहित्य में ईसा की पहली शताब्दी में लिखित 'गाथा सप्तशती' में कृष्णकथा का वर्णन उपलब्ध होता है।

प्राचीन पुराणों में केवल भागवत में गोपाल कृष्ण की कथा सम्यक रूप से वर्णित की गयी थी, परंतु उसमें भी राधा का नामोल्लेख तक नहीं मिलता। पद्मपुराण और उससे भी कहीं ज्यादा ब्रह्मवैवर्त पुराण में ही राधाकृष्ण की प्रेम-रोमांस से परिपूर्ण कथा विस्तार से की गयी है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि लोक साहित्य, गीत और कथाओं में कृष्ण के विविध रूपी असंख्य आख्यान प्रचलित रहे होंगे। अपने इस अनुमान की पुष्टि में वे मध्यकालीन जनभाषाओं की काव्यपरंपरा में कृष्णभक्ति साहित्य के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं।

सवाल यह है कि ये कृष्ण थे कौन? इसके उत्तर में निर्विवाद रूप से सभी स्वीकार करते हैं कि कृष्ण शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वंशीय क्षत्रियों के कुलदेवता थे। लोक में उनका प्रचलित नाम गोपाल कृष्ण था। अश्वघोष के 'बुद्धचरित', हाल सातवाहन की 'गाहासत्तसई', तमिल भाषा के आलवार भक्तों के भक्तिगीत संग्रह 'प्रबंधम्' आदि से होते हुए कृष्णकथा की परंपरा बारहवीं सदी के जयदेव के 'गीत गोविन्द' में परिपक्व और परिपुष्ट हो जाती है। कृष्ण, राधा और गोपियों की कथा ऋं माध्यम से शृंगार और भक्ति का सम्मिश्रण जयदेव के गीतगोविन्द में अनुपम माधुर्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाव विभोर कर देने वाली तन्मयता की सृष्टि करने में भी जयदेव के गीत अद्वितीय माने जाते हैं। शृंगार और भक्ति की सम्मिलित भावभूमि पर कृष्णकथा का यह नया साहित्यिक विकास जयदेव के बाद मैथिली के रचनाकार विद्यापति के प्रगीतों में खूब लोकप्रिय हुआ। चौदहवीं सदी की मैथिली की भाषिक संरचना तथा जयदेव की परंपरा में गेय पदावली के माधुर्य के कारण विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में ब्रजभाषा की सोलहवीं सदी वाली कृष्ण काव्यपरंपरा के प्रेरक और प्रवर्तक के रूप में जयदेव और विद्यापति की चर्चा की गयी है। उनकी स्थापना है कि कृष्णचरित के गान में भौतिककाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहायी उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया।

कृष्ण कथा की उक्त शृंगारिक परंपरा से हिन्दी भक्तिकाव्य का उद्भव मानने पर डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा को आपत्ति है। उनका कहना है कि सोलहवीं शताब्दी का कृष्णभक्ति काव्य धार्मिकता और इहलौकिकता के संदिग्ध सम्मिलन से प्रारंभ नहीं हुआ। विद्यापति से उसने प्रेरणा नहीं ग्रहण की। उसका प्रणयन विशुद्ध धार्मिक वातावरण में, प्रायः सांप्रदायिक तत्वावधान में हुआ। उसका तात्कालिक मूल आधार प्रत्यक्षतः 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्णकथा है; यद्यपि हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य 'भागवत' या 'ब्रह्मवैवर्त' आदि किसी भी पुराण में वर्णित कृष्णकथा की लीलाओं में बँधा नहीं है। उसने अपनी भावना की पोषक सामग्री लेने में पुराणों की अपेक्षा लोक-साहित्य से कहीं अधिक स्वच्छंदतापूर्वक सामग्री ग्रहण की है।

डॉ. मैनेजर पांडेय ने 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक अपनी पुस्तक में कृष्णकथा की परंपरा का विस्तृत विवेचन किया है। उत्तरी भारत के कृष्णकाव्य या सोलहवीं सदी के हिन्दी कृष्णकाव्य जैसे अमूर्त दृश्यफलक के बजाय शूरसेन प्रदेश या ब्रज प्रदेश के कृष्णभक्ति परंपरा के आरंभ की ठोस विवेचन करना उन्होंने आवश्यक समझा। इसलिए उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि वल्लभाचार्य ने ब्रजप्रदेश में कृष्णभक्ति को सुसंगठित और व्यवस्थित रूप में स्थापित किया।

हिन्दी भक्तिकाव्य में कृष्णभक्ति से संबंधित पुष्टि मार्गीय, गौड़ीय, राधावल्लभी और हरिदासी संप्रदायों के योगदान की चर्चा की जाती है। कृष्णाश्रयी भक्ति की अनेकानेक शाखा-प्रशाखा के आचार्यों और भक्त कवियों द्वारा रचित साहित्य परिमाण में विपुल है। अगर साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से निर्ममतापूर्वक चयन करना पड़े तो कहना पड़ेगा कि राधावल्लभी संप्रदाय के हरिवंश गोस्वामी की

पदावली रागात्मक संवेदना और माधुर्य की दृष्टि से अवश्य ही उल्लेखनीय है। इनके साथ हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास, ध्रुवदास, हित वृन्दावनदास आदि की भी चर्चा की जाती है।

कृष्णभक्ति काव्य में नन्ददास, रसखान और मीरा के उल्लेखों से ही इस भावधारा को परिपूर्णता मिलती है। मीरा किसी संप्रदाय में शामिल नहीं हुई थीं। अतः उनकी भक्तिभावना पर निर्गुण संतमत और गिरिधर नागर के प्रति अनन्य प्रेम की दोहरी छाप दिखायी देती है।

सूरदास समेत सभी कृष्णभक्त कवियों का एक ही लक्ष्य था - रस, आनन्द और प्रेम की युगलमूर्ति राधाकृष्ण की लीला का गायन। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में कृष्णभक्ति शाखा के विवेचन के अंतर्गत यह मान्यता रखी गयी है कि कृष्णभक्ति परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौंदर्य का समुद्र है।

कृष्णाश्रयी काव्यधारा की कृतियों में लोकसंग्रह, लोक कल्याण और लोकचिंता के अभाव को आचार्य शुक्ल ने बार-बार रेखांकित किया है।

9.4.2 सगुण-निर्गुण द्वन्द्व में सूर की भूमिका

भक्ति आंदोलन के भीतर सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व बहुत ही तीखा हो गया था। सोलहवीं सदी में कृष्णभक्ति की नयी धारा के प्रसार के क्रम में भगवान की सगुण लीला का गान ब्रजप्रदेश में ही नहीं, भारत के अन्य अंचलों में भी लोकप्रिय होने लगा। भक्त कवि सूरदास कृष्ण के लीलामय सगुण रूप के अनन्य भक्त हो गये। वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया।

सूर का काव्य एक ओर जहां स्त्री-पुरुष संबंधों की स्वच्छंदता और उन्मुक्त प्रेमभावना का समर्थन करता है, वहीं उस जमाने के शास्त्रीय और दार्शनिक विवादों में भी हस्तक्षेप करता है। 'भ्रमरगीत' के उद्धव-गोपी संवाद में ज्ञान बनाम भक्ति, सगुण बनाम निर्गुण की बहस अपने प्रखर रूप में व्यक्त हुई है। इस तर्क-वितर्क, दार्शनिक ऊहापोह और वैचारिक टकराहट के भीतर अनेकानेक संदर्भ ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि सूरदास नाथपंथियों, सिद्धों और संतों की दलीलों का खंडन कर रहे हैं। सैकड़ों ऐसे पद हैं जिनमें योग, ज्ञान और निर्गुण-निराकार ब्रह्म के अस्तित्व पर शंका व्यक्त की गई है, आपत्ति की गयी है और उनकी निस्सारता सिद्ध की गयी है। उद्धव-गोपी संवाद वस्तुतः निर्गुणिया मत से सूर की मुठभेड़ का छाया-बिम्ब प्रतीत होता है। गोपियों की अश्रुपूरित, भावाकुल और करुण मनोदशा स्वयं में उद्धव को निरुत्तर करने, उन्हें चुप करने, खामोश करने की तार्किक क्षमता रखती है। पिछले पांच-छह सौ सालों से चले आ रहे वैचारिक द्वन्द्वों में सूरदास अवतारवाद का अनुमोदन करते हैं और कृष्ण की सगुण मूर्ति की उपासना के पक्षधर के रूप में सामने आते हैं।

उद्धव स्वयं ज्ञानमार्गी हैं और ब्रह्म की निर्गुण-निराकार सत्ता में विश्वास रखते हैं। कृष्ण उनके ज्ञान गर्व को चूर करना चाहते थे। इसलिए गोपियों के पास उद्धव को भेजते हैं। गोपियां निर्गुण की साधना कैसे कर सकती हैं, वे तो कृष्ण की सगुण लीला के रस और प्रेम में पगी हैं; कृष्ण के मधुरा चले जाने के बाद विरह-व्याकुल हो रही हैं। उद्धव द्वारा निर्गुण साधना, योग साधना, नाथपंथी वज्रयानी साधना का उपदेश सुनकर गोपियां पूछती हैं -

निर्गुण कौन देस को वासी?

मधुकर! हंसि समुझाय, सौह दै बूझति सांच, न हांसी।।

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?

कैसो बरन भेस है कैसी केहि रस में अभिलासी?

पावैगो पुनि कियो आपना जो रे! कहैगो गांसी।

सुनत मौन है रहयो ठग्यो सौ सुर सवै मति नासी।।

गोपियां उद्धव से निर्गुण ब्रह्म का परिचय जानना चाहती हैं। यह निर्गुण ब्रह्म किस देश का वासी है? हे भौरे (उद्धव), हमें अच्छी तरह से समझा दो। हम शपथ खाकर तुमसे सच्ची-सच्ची बात जानना चाहती हैं, कोई मजाक नहीं कर रही हैं - कोई हंसी नहीं उड़ाना चाहती हैं। हम वास्तव में जानना चाहती हैं कि उस निर्गुण का पिता कौन है? उसका रूप रंग तथा रचनावा कैसा है? वह किस रस के योग की अभिलाषा करता रहता है? गोपियां पूछती हैं - हमारा प्रेमी तो प्रेमरस में अनुरक्त है पर यह निराकार ब्रह्म किस रस की इच्छा रखता है? हे उद्धव, यदि तुमने इन बातों का गलत उत्तर दिया तो अपने किये का फल पाओगे। गोपियों की ये दलीलें सुनकर उद्धव ठो से रह गये, मौन हो गये और उनकी बुद्धि पंगु-सी हो गई।

सूरदास गोपियों के माध्यम से निर्गुण मतवाद के खंडन में ब्रह्म चिंतन संबंधी दार्शनिक विवादों के अस्त्रागार से अपने तर्क नहीं लाते। गोपियां बार बार लौकिक जीवन की कसौटी पर परम सत्ता या उपास्य अलौकिक सत्ता की अवधारणा को परखती हैं। इस वाद-विवाद-से यह स्पष्ट है कि सूरदास लौकिक जगत के मानवीय संबंधों को दर्शन के केंद्र में रखते हैं, ब्रह्मचिंतन संबंधी अमूर्त और वायवीय अवधारणाओं से अपनी जीवन-दृष्टि को मुक्त रखना चाहते हैं। इस गोचर लौकिक जगत से परे कोई अलौकिक परम सत्ता है। उसे योग क्रियाओं के माध्यम से पाया जा सकता है - यह कल्पना गोपियों को सन्निपात के मरीज का प्रलाप प्रतीत होती हैं। गोपियां उद्धव से व्यंग्य करती हैं - आप बड़े सयाने हो-

ऊधो! जानि परे सयान।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान।।
निगम तू नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान।
नयन त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान।।
पवन धरि रबि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि।।

हे उद्धव ! आप तो बड़े चतुर मालूम पड़ते हो। योग का उपदेश स्त्रियों को आप देने आये हैं। आप ज्ञान-साधना द्वारा जिस निर्गुण ब्रह्म को जानने की बात कहते हैं उसको तो वेद भी नहीं जान पाये। आप हमें उस ब्रह्म का उपदेश देते हो जिसकी प्राप्ति के लिए नेत्रों की त्रिकुटी की ओर योगी ध्यान लगाते हैं। वे प्रणायाम करके एकटक निर्निमेष दृष्टि से सूर्य की ओर देखते रहते हैं और अपने मन पर नियंत्रण रखते हैं पर ऐसी साधना हमसे संभव नहीं है चूंकि हमारा मन तो हमसे बिछुड़ कर कृष्ण के पास सिधार गया है। उस मन पर हमारा नियंत्रण कहाँ रहा?

गोपियां पूछती हैं - "रूप न रेख, बरन जाके नहिं" उससे तुम प्रेम करने का उपदेश देते हो। पहले यह बताओ - "अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हो पावत।" सूरदास का सबसे बड़ा तर्क प्रेम है जिसकी कोई लौकिक सत्ता नहीं, जिससे कोई रिश्ता कायम नहीं हो पाता, जिससे रोज-रोज का जीवन-व्यवहार और लेनदेन नहीं है, उसके प्रति लगाव कैसे हो सकता है? उसकी भक्ति कैसे हो सकती है? जिससे कभी मिलना संभव नहीं है, उसके रूप, उसके व्यक्तित्व की धारणा ही नहीं हो पाती। इसके विपरीत जिससे संबंध बन जाता है और प्यार हो जाता है, उसके लिए अपने को उत्सर्ग करने की भावना सहज ही उत्पन्न हो जाती है :-

ऊधो प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै।।
प्रीति परेवा उड़त गंगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कटक आपु प्रहारै।।
प्रीति जात जैसे पय पानी जानि अनपपौ जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक ताबि तानि सर मारै।।
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपौ हारै?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसु निरुवारै।।

हे उद्धव! जब किसी से प्यार होता है तो प्यार करने वाला मृत्यु की परवाह नहीं करता। प्रेम के कारण पतंगा आग की लपटों में कूद पड़ता है और जल मरता है। जलते समय वह अपने अंगों को भस्मीभूत होने से बचाता नहीं। प्रेम के कारण कबूतर आकाश में ऊँचा से ऊँचा चढ़ता जाता है - और जब गिरने लगता है तो अपने को संभाल भी नहीं पाता। प्रेम के कारण ही भौरा केतकी के फूल के अंदर बैठ जाता है और कांटों की चोट सहता रहता है। प्रीति के कारण ही पानी दूध में मिलकर आग के उबाल को सहता है और जल जाता है। वीणा की स्वर-लहरी से प्रीति के कारण एक स्थान पर बैठा हुआ हिरण शिकारी के बाण का शिकार हो जाता है। प्रीति के कारण ही माँ अपने बेटे के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाती हुई अपने स्वत्व को होम कर देती है। गोपियाँ कहती हैं - ऐसा ही हमारा प्रेम कृष्ण के प्रति है। इस प्रेम से अब छुटकारा कहाँ है?

'भ्रमरगीत' को सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी अंश माना जाता है। यह एक प्रकार का उपालंभ काव्य भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सगुण-निर्गुण विवाद में सूरदास के भ्रमरगीत पदों की विवेचना करते हुए इस मान्यता पर जोर देते हैं कि भक्ति शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से - हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्कपद्धति पर नहीं - किया है। सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से ले आये हैं जिससे संवाद में बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस सगुण-निर्गुण विवाद में सूरदास और तुलसीदास को एक तरफ रखते हैं और दूसरी तरफ नाथपंथियों, सिद्धों और संतों को रखते हैं। सवर्ण हिन्दू समाज के पंडितों - पुरोहितों पर व्यंग्योक्तियों के बाण बरसाने वाले नाथों, सिद्धों और संतों के प्रसंग में आचार्य मिश्र जी कहते हैं - ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ा जिस पर चलकर अनपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टेढ़ेमेढ़े अभ्यासों को ही सबकुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुँहजोरी करने लगे। अज्ञान से जिनकी आँखें बंद थीं वे ज्ञान चक्षुओं को आँख दिखाने लगे।

आचार्य मिश्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ज्ञानमार्गी धारा "लोकविरोधी धारा" थी। वे यह भी मानते हैं कि यह तत्कालीन उद्वेगजनक प्रवृत्ति ही थी जिसका उच्छेद करने के लिए सूर ने 'सागर' की ये उत्ताल तरंगें लहरायीं।

ज्ञानयोग के प्रतिपक्ष में साकार उपास्य देव के लिए प्रेमभक्ति की भावना सूर के काव्य में निर्विवाद रूप से उपस्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं है। सूर ने सगुण-निर्गुण के विवाद में ज्ञान या योगमार्ग को संकीर्ण, कठिन तथा नीरस बताया तथा भक्तिमार्ग को विशाल राजपथ जैसा सरल और सरस माना है। विश्व की रूपविभूति और जीवनलीलाओं में मन को रमाने का जैसा अवसर भक्ति भावना के माध्यम से मिलता है, वैसा अंतःसाधना के चक्करदार, रहस्यमय और गुह्य पथ से मिलना संभव नहीं है। सूर की यही तर्क पद्धति है जो भोलीभाली गोपियों के संवाद के माध्यम से रसभरी भक्ति की रमणीयता से सराबोर है। सगुण-निर्गुण विवाद की यह द्वन्द्वात्मकता ही भ्रमरगीत प्रसंग का प्राण है।

गोपियों की प्रेममग्न तन्मयता, विह्वलता और भावना में पगी तर्कशीलता के आगे अंततः उद्धव हार मान जाते हैं। उद्धव जब लौटकर मथुरा आते हैं और श्री कृष्ण को अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाते हैं तो एक तरह से अपनी पराजय मान लेते हैं -

माधव जू! मैं अति सचु पायो ।
अपने जानि सदेस-ब्याज करि ब्रजनन मिलन पठायो ।
छमा करौ तौ करौ बीनती जो उत देखि हौं आयो ।
श्रीमुख ज्ञानपंथ जो उचरयो तिन पै कछु न सुहायो ।।
सकल निगम सिद्धान्त जन्म-म्रम स्यामा सहज सुनायो ।
नहिं सुति, सेष, महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायो ।।
कटुक कथा लागी मोहिं अपनी, वा रस-सिंधु समायो ।

उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि बुझायो।
 तुम्हरी अकथ-कथा तुम जानो हम जन नाहिं बसायो।
 सूरदास सुंदर पद निरखत नयनन नीर बहायो।।

भक्ति आंदोलन के संदर्भ
 में सूर काव्य का महत्त्व

हे कृष्ण! माधव जी! मैंने ब्रज में जाकर सचमुच अति सुख प्राप्त किया - गोपियों के संसर्ग से मुझे अपार सुख मिला। आपने ज्ञान-संदेश देने के बहाने मुझे ब्रज के लोगों से मिलने भेजा था। यदि आप क्षमा करें तो मैं विनती करके उन सब बातों का वर्णन करना चाहता हूँ जिन्हें मैं वहाँ देखकर आया हूँ। आपने अपने श्रीमुख से जिस ज्ञानपंथ का उच्चार किया था, वह उन्हें जरा भी नहीं सुहाया। जन्मभर के परिश्रम के बाद जो वैदिक सिद्धांत का ज्ञान होता है, उसे तो श्यामा (राधा) ने सहज ही सुना दिया। जिस रस का गान गोपियों ने किया है, वह वेद, शेषनाग, शिव और ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं है। उनके सामने मुझे अपना ज्ञानमार्गी उपदेश कड़वी कथा समान लगता और मैं स्वयं ही उनके प्रेमरस के सागर में समा गया। मैंने उधर ब्रज में आपका ही रूप सर्वत्र देखा और मेरी आपके विषय में सारी तृषा - सारी जिज्ञासा शांत हो गयी। आपकी कथा वस्तुतः अकथनीय - अनिर्वचनीय सी है; उसे आप ही जान सकते हैं। हम जैसे लोग उसे जान नहीं सकेंगे। इस तरह उद्धव ने अपना वृत्तान्त सुनाने के बाद श्री कृष्ण के सुन्दर चरणों को निहारा और अपने सौभाग्य पर अपने ही नेत्रों से हर्ष से भरे आँसू बहाये।

सगुण-निर्गुण विवाद में उद्धव का यह चित्र प्रस्तुत कर सूरदास मानवीय संवेदना का एक भाव-विह्वल परिणाम दिखलाते हैं कि किस तरह गोपियों के आगे उद्धव हार कर लौटे हैं।

9.5 सूर काव्य में प्रेमाभक्ति

प्रेमाभक्ति, पुष्टिभक्ति, रागानुगा भक्ति या रागात्मिका भक्ति - ये सभी परिभाषिक पद एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। सूर की भक्ति पद्धति को परिभाषित करने के लिए प्रायः इसी पद या शब्दावली का उपयोग किया जाता है।

वल्लभाचार्य के संप्रदाय का नाम पुष्टिमार्ग था। सूरदास को इस संप्रदाय की दीक्षा स्वयं वल्लभाचार्य ने दी थी। भगवान के अनुग्रह या भगवत कृपा के रूप में पुष्टि की व्याख्या की गई है। वल्लभाचार्य ने प्रवाह मार्ग, मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग - इन तीनों मार्गों में पुष्टिमार्ग को श्रेष्ठ बताया था। वल्लभ मत में प्रवाह मार्ग का अर्थ है दुनियादारी और सांसारिकता के भवचक्र में फंसे रहना; मर्यादामार्ग का अर्थ है वैदिक जीवन प्रणाली का अनुसरण और पुष्टिमार्ग का अर्थ है आत्मसमर्पण युक्त रसात्मक प्रेम के द्वारा भगवान की आनन्दलीला में लीन रहना। इस तरह पुष्टिमार्ग का जो भी अनुयायी होता है उसके लिए भगवान लीला पुरुषोत्तम हैं। भक्त अपनी प्रेमाभक्ति के लिए भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करता है।

वल्लभ-मत के अंतर्गत यह मान्यता प्रचलित है कि जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान अवतार ग्रहण करते हैं। उनके अवतार का प्रयोजन लीला करना है। यह लीला आकस्मिक घटना नहीं बल्कि भगवान की नित्य लीला है। चूंकि भक्त की भक्ति भावना भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करती है - अतः यह वैष्णवों की नवधा भक्ति से भिन्न है और इसकी भिन्नता स्थापित करने के लिए ही इसका नामकरण पुष्टिभक्ति के रूप में किया गया है। भक्ति की इस पद्धति में भजन-पूजन नहीं होता - बल्कि भगवान की लीला के प्रति रागात्मक लगाव होता है, गहरी अनुरक्ति होती है और सच्ची प्रेमभावना होती है। अतः इस लगाव, अनुरक्ति और सच्ची प्रेम भावना की व्यंजना करने के लिए भक्ति की इस पद्धति को रागानुगा, प्रेमलक्षणा या प्रेमाभक्ति का नाम दे दिया गया है।

पुष्टिमार्ग में भगवान के रूप में श्रीकृष्ण के परमानंद रूप की आराधना या उपासना की व्यवस्था की गई है। श्रीकृष्ण सौंदर्य, आनन्द और रस के आगार हैं। वेश-विन्यास, गृह-प्रसाधन, पाक-कला, संगीत और काव्य - सबको पुष्टिमार्ग में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। दरअसल पुष्टि मार्गीय भक्ति गृहस्थ धर्म का निर्वाह करने वाले जन-साधारण की प्रवृत्तिमार्गी उपासना पद्धति के रूप में विकसित हुई थी। सांसारिक

आकर्षणों का निषेध करने वाला यह भक्तिमार्ग नहीं था। इसीलिए लौकिक मानवीय संबंधों के परिप्रेक्ष्य में सूर की प्रेमाभक्ति का भावसौंदर्य अच्छी तरह पुष्पित-पल्लवित हो सका था।

पुष्टिमार्गी भक्ति संप्रदाय के भीतर गृहत्यागी साधुओं की कोई व्यवस्था नहीं है। इस उपासना मार्ग के अंदर कोई कर्मकांड भी स्वीकार नहीं किया गया है। वस्तुतः इस भक्तिमार्ग में त्याग को कोई स्थान प्राप्त नहीं है; समर्पण ही सब कुछ माना गया है। सूरदास के काव्य को पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों की यांत्रिक परिणति या काव्यानुवाद के रूप में देखने की प्रवृत्ति पर अनेक समीक्षकों ने अपनी आपत्ति दर्ज करायी है। सूर के काव्य में जिस प्रेमाभक्ति की भावधारा मिलती है, उसे सांप्रदायिक अर्थों में खांटी पुष्टिमार्गीय सिद्ध करना एक दुःसाध्य कार्य है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा इस प्रसंग से संबंधित विवादों में हस्तक्षेप कर यह बता चुके हैं कि सूरसागर में शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि वे शंकर अद्वैत के विरोधी थे और अद्वैतवाद के उस संशोधित रूप के समर्थक थे जिसमें भक्त और भगवान तथा भक्ति के साधन - उपकरणों की पृथक स्वीकृति भी संभव हो सके। उसे शुद्धाद्वैत कहें या द्वैताद्वैत, कदाचित्त इस विषय में सूरदास विशेष चिंतित नहीं थे।

सूरदास के उपास्य श्रीकृष्ण हैं जिनके प्रति गहरा अनुराग और प्रेमपूर्ण भावावेग व्यक्त करने के लिए उनके रूप, व्यक्तित्व, परिवेश, कियाकलाप, लीलामय स्वरूप आदि का चित्रण सहज मानवीय संबंधों के गतिमान संदर्भों के बीच से किया गया है। अपनी इस काव्य-कला की अनूठी प्रतिभा के स्फुरण के लिए वे पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों की तोतारटंत शब्दावली पर निर्भर नहीं करते। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में यह ब्रजवासियों के श्रीकृष्ण संबंधी रस में भरा हुआ सागर ही सूरसागर है। ब्रज के समस्त जीवन का सार-रस --माता के हृदय का रस, पिता के सुख का रस, सखाओं के सहवास का रस, प्रियतमा गोपियों के संयोग-वियोग का रस जो संपूर्ण कृष्णमय रस है, यही सूरसागर है।

रागानुगा भक्ति का पुष्टिभक्ति या विशिष्टता का विवेचन डॉ. मुंशीराम शर्मा ने अपने शोधग्रंथ 'महाकवि सूरदास : एक अध्ययन' नामक पुस्तक में किया है। वस्तुतः सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादाओं में यह प्रेमाभक्ति बंधी हुई नहीं होती। उल्लिखित पुस्तक के अंतर्गत 'मर्यादाभंग और स्वच्छंद प्रेम' नामक एक उपखंड है जिसमें बतलाया गया है कि सूर की रागानुगा भक्ति की कल्लोलिनी धारा मर्यादा के तटबंध को तोड़ती-फोड़ती हुई उद्दाम वेग से बढ़ती जाती है। डॉ. मुंशीराम शर्मा के शब्दों में सूर की गोपियाँ इतनी स्वच्छंद हो जाती हैं कि वे कृष्ण के हाथ से मुरली छीन कर बजाने लगती हैं। कृष्ण का मुकुट खुद अपने सिर पर धारण कर लेती हैं और कृष्ण को अपना शीश फूल पहना देती हैं। उनके वस्त्र स्वयं पहन लेती हैं और स्वयं ही कृष्ण बन जाती हैं, जबकि कृष्ण को अपना वस्त्र पहनाकर उन्हें राधा बना देती हैं। कृष्ण राधा के रूप में मान मनुहार कर बैठ गये और गोपियाँ कृष्ण बनकर उनकी मनुहार करने लगीं। पुष्टिमार्गीय भक्ति के निरूपण में मर्यादा भंग, वस्त्रों के क्रमभंग, आभूषणों के धारण में स्थान भंग जैसी स्वच्छंद नाट्यभंगिमाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने में सूरदास अद्वितीय हैं। इस प्रकार के वर्णन वस्तुतः रागानुगा भक्ति के निरूपण के अंतर्गत लीला-चित्र माने जाने चाहिए। रास लीला, होली लीला, जलक्रीड़ा आदि में भी इसी प्रकार के स्वच्छंद संबंध के वर्णन अनेक स्थलों पर रेखांकित किये जा सकते हैं। राधा कृष्ण से हठ करती हैं कि वह उसे अपने कंधों पर बिठाये। लौकिकता के आश्रय में ही प्रेम दिव्य आभा ग्रहण कर आलोकित हो जाता है।

सूरसागर में इस प्रेमलक्षणा भक्ति का सांगोपांग चित्रण हुआ है- कहना चाहिए कि प्रेम के प्रारंभ, विकास और उसकी चरम परिणति - सभी भावदशाओं के चित्रों से सूरकाव्य भरा पड़ा है। रागानुगा भक्ति को प्रेम की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'भक्ति रसामृत सिंधु' नामक श्री रूपगोस्वामी के भक्तिशास्त्र संबंधी ग्रंथ में रागानुगा भक्ति को अंतिम सीढ़ी माना गया है। कृष्ण के प्रति राधा या गोपियों का प्रेम इस कोटि का है। 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक डॉ. मैनेजर पांडेय के शोधग्रंथ में सूरदास की भक्तिभावना का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उनकी मान्यता है कि माधुर्यभाव की मधुर भक्ति रागात्मिक भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। इस मधुर शक्ति का स्थायी भाव माधुर्य, कांता रति या मधु रति है। इस माधुर्य भाव की भक्ति का चरम रूप राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण के स्वच्छंद प्रेम संबंध में व्यक्त हुआ है। सूरसागर में स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच सामाजिक

मर्यादाओं के बंधन से बंधा हुआ संस्कार कहीं भी परिलक्षित नहीं होता बल्कि स्वकीया-परकीया की नायक-नायिक भेद वाली शास्त्रीय दृष्टि से मुक्त यह प्रेमाभक्ति है। मैनेजर पांडेय ने ठीक ही कहा है कि राधा और कृष्ण परम चैतन्य के ही दो रूप हैं। उनका प्रेम पुरातन है। वे सनातन हैं और उनका यह लौकिक रूप लीलारूप है। उनकी गुप्त लीला शाश्वत है, प्रेम शाश्वत है, लेकिन इस प्रकट लीला में लोकलाज एवं कुलकानि की चिंता है। रासलीला में राधा नायिका हैं। वे रास के मध्य विराजमान हैं। कृष्ण जगनायक हैं और राधा जगदीश प्रिया, जगतजननी और जगत रानी है। वृंदावन में राधाकृष्ण का विहार नित्य है। रासलीला में राधा स्वकीया है। वे दोनों मूर्तिमान राग-रागिनी हैं। रासलीला में राधा जीव है और सभी गोपियां देह। राधा गोपियों की आत्मा है। रासलीला के पश्चात् ग्रीष्म लीला, युगल समागम, मान लीला, दम्पति विहार, खंडिता प्रकरण, झूलन और वसंतोत्सव के सहारे राधा कृष्ण की प्रेमलीला चलती है।”

यह उल्लेखनीय है कि प्रेमाभक्ति सिर्फ संयोगावस्था में ही नहीं होती। वियोग के क्षणों में भी प्रेमी की स्मृति सताती रहती है और आंखों में प्रेमी का नित्य लीला स्वरूप जगमगाता रहता है। डॉ. पांडेय तो विरह दशा में ही प्रेमाभक्ति की तन्मयता का उत्कर्ष मानते हैं। उनके अनुसार सूरदास ने सिद्धांत रूप में भी प्रेम में विरह की दशा की आवश्यकता पर बल दिया है। वियोग प्रेम की सिद्धावस्था है। वह चित्त की समाधि अवस्था है जहाँ तन्मयता, तद्रूपता और तल्लीनता का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

9.6 सूरदास की भाषा और रूप विधान

सूरदास भी भक्तिकाल के समानधर्मा कृतिकारों की तरह ही 'भाखा' के कवि थे। उन्होंने स्वयं अपनी रचनाएँ लिखी नहीं थीं। उनकी विनम्र आत्मस्वीकृति है कि भागवत के द्वादस स्कंधों को उन्होंने भाखा के पदों में गाकर कहा है - सूरदास सोई कहे, पद भाखा करि गाइ।। - यह बहुत ही महत्वपूर्ण उक्ति है।

तेरहवीं सदी के बाद से लगातार आधुनिक भारतीय भाषाओं के अम्प्युदय के प्रमाण मिलते हैं। ब्रजभाषा भी हिन्दी क्षेत्र की एक आधुनिक भारतीय भाषा है। सूरदास अपने पदों की रचना इसी जनभाषा में करने लगे, इन पदों को गाकर सुनाने लगे - ये पद संगीत के सुरों में ढले हुए थे। धीरेन्द्र वर्मा यह मानते हैं कि ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है, जब ब्रजप्रदेश में गौडीय वैष्णव और वल्लभ संप्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग के केन्द्र स्थापित हुए। सूरदास साहित्यिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे। उनके उपरांत हिन्दी प्रदेश के लगभग समस्त कृष्णभक्त कवियों ने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही लिखीं, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा हिन्दी प्रदेश की प्रमुख साहित्यिक भाषा बन गयी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का हिन्दी रीति साहित्य भी ब्रजभाषा में ही लिखा गया। यह भक्तिकाल की ब्रजभाषा का अधिक परिमार्जित और साहित्यिक रूप है तथा इस पर पूर्वी ब्रज (कन्नौजी) का प्रभाव कुछ अधिक मिलता है।

ब्रजभाषा में रची गई सूरदास की पदावली पर विचार करते समय सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इस बात की ओर ध्यान गया कि इतनी "परिष्कृत और परिमार्जित भाषा" के पीछे कोई काव्यपरंपरा अवश्य ही होनी चाहिए। उनकी टिप्पणी थी सूरसागर की रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य परंपरा का - चाहे वह मौखिक ही रही है - पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की टिप्पणियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा में काव्य-परंपरा का सूत्रपात सूरदास ने ही किया था। उनके पहले के किसी भी ब्रजभाषा कवि की कोई उल्लेखनीय कृति का उल्लेख तक नहीं मिलता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शोधग्रंथ 'सूरपूर्व ब्रजभाषा' में भी ऐसी किसी उल्लेखनीय कृति का प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि सूरदास के पहले

ब्रजभाषा की साहित्यिक परंपरा का अस्तित्व था और सूरदास ने उस परंपरा से सीख कर अपनी भाषा और काव्य शैली का परिष्कार किया था। डॉ. मैनेजर पांडेय के सूरदास संबंधी शोधग्रंथ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उनकी मान्यता है कि सूरदास कवियों के कवि इसलिए भी हैं कि उन्होंने ब्रजभाषा काव्य की जो परंपरा निर्मित की, वह बाद के लगभग चार सौ वर्षों तक चलती रही। सूर को समाज और साहित्य से जो ब्रजभाषा मिली थी उसे पहले से अधिक विकसित, परिष्कृत और अभिव्यंजक बनाकर उन्होंने बाद के कवियों को सौंपा।

सूरदास का काव्य ब्रज प्रदेश की लोक संस्कृति और उसकी वाचिक परम्परा से प्राण शक्ति खींचकर पला, बढ़ा और परिष्कृत हुआ था। सूरसागर के पद संगीत की स्वरलहरी की आवश्यकताओं के अनुसार ढले और रचे गये प्रतीत होते हैं। श्रोतामंडली को सुनाने के लिए ये पद कहे और गाये गये थे। लिखित पाठ के रूप में इनका सृजन न होना यह बतलाता है कि श्रुतिमधुर शब्दमैत्री, सुर और ताल के आग्रह और लोक कंठ की धुनों के प्रचलित रूपों से इन पदों की गेयता काव्यबंध और छंद का गहरा रिश्ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस प्रसंग से संबधित उक्ति अविस्मरणीय है कि आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्री कृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। सूरसागर के पदों की ब्रजभाषा का प्रगीतात्मक स्वरप्रवाह भक्तिकालीन काव्यसृजन की प्रक्रिया में संगीत के निर्णायक अनुरोध और अनुशासन का महत्व भी दरसाता है। आज भी बड़े से बड़े गायक ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली के ही भजन या पद गाते हैं। इस तथ्य से यह संकेत मिलता है कि मध्यकाल की वाचिक परंपरा का संगीत से अविच्छिन्न संबंध था।

सूरदास के पदों में लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत - दोनों की राग-रागिनियाँ उपलब्ध होती हैं। डॉ. मनमोहन गौतम का अनुमान है कि श्रीनाथ जी के मंदिर में गाये जाने वाले कीर्तन की रचनाओं को सुनने वाले दोनों प्रकार के श्रोतासमूह वहाँ मौजूद होते थे। अतः "जैसा समुदाय होता था, उसी के अनुरूप सूरदास जी भजन गाते थे।

9.6.1 सूर की काव्य भाषा

सूरकाव्य की सर्जनात्मक बनावट और कलात्मकता के निर्माण में भाषासौष्ठव का अपूर्व योगदान है। समग्र काव्यार्थ की निर्मिति में काव्यभाषा एक संश्लिष्ट उपादान की तरह होती है। सूरसागर की काव्यभाषा के सौंदर्य, नाद तत्व और व्यंजकता को देखकर आचार्य रामचंद्र को आश्चर्य हुआ था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो दीर्घ काल से चली आ रही किसी मौखिक काव्य-परंपरा में सूरदास दीक्षित हुए हों। उनकी उक्ति अविस्मरणीय है-

ध्यान देने की बात है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण, कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ उनकी जूठी जान पड़ती है।

ब्रजक्षेत्र की जनपदीय बोली किस तरह एक विकसित काव्यभाषा का रूप ग्रहण करती है, यह एक अलग समस्या है, जिसपर भाषाशास्त्र के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। यहाँ सूरदास के प्रसंग में पहली बात ध्यान देने की यह है कि सूर की काव्यभाषा ब्रजक्षेत्र की रोजमर्रा की बोलीबानी से अलग नहीं है। पहले से चली आती हुई मौखिक गीत-परंपरा और ब्रज क्षेत्र की दिनचर्या की ठोस संवादमयता - इन दोनों को एक अंधे कीर्तनकार ने किस तरह अंतः गुम्फित किया, किस तरह उसे अर्धव्यंजना की दृष्टि से परिष्कृत किया और हजारों पदों की रचना कर पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में संस्कृते के उच्चतर आसन पर ब्रजभाषा को प्रतिष्ठित कर दिया - इन सभी पहलुओं का विद्वानों ने बार-बार उल्लेख किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूर की काव्यभाषा का अपूर्व सामर्थ्य बतलाते हुए मूलतः दो कसौटियों को निर्णायक मानते हैं - (क) शब्दों की मितव्ययिता तथा (ख) चित्रमयता। इन दोनों ही कसौटियों पर

सूरकाव्य की परख करते हुए वे कहते हैं - सूरदास में ये दोनों गुण हैं। दूसरे गुण में तो सूरदास की समता संसार के कुछ ही कवि कर सकते हैं।

भक्ति आंदोलन के सदर्भ
में सूर काव्य का महत्व

सूर के पदों का काव्योत्कर्ष मूलतः वक्रोक्ति, श्लेष, व्यंग्यार्थ और माधुर्य गुण से संपन्न शब्दमैत्री पर निर्भर करता है। कला की दृष्टि से इतनी समृद्ध काव्यभाषा बोलचाल और दैनंदिन बातचीत की नाटकीयता के बिना संभव ही नहीं हो पाती। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार सूर की काव्यभाषा में सहज ही उमड़े चले आते हैं। चूँकि ऐंद्रिक चित्रों की रचना में वे अपूर्व कलाकौशल का परिचय देते हैं, अतः सूरसागर की पदावली चित्रमयता से जगमग करती रहती है। साधर्मिक अलंकार सूर की सम्मूर्त्त कला के उपादान बनकर आते हैं। मानव आचरण, विश्वसृष्टि और ब्रज की ग्रामीण प्रकृति से सूरदास अपने उपमान चुनते हैं। ये उपमान कृतिकार के अभिप्रेत कथ्य और उसकी काव्यवस्तु को श्रोता या पाठक के सम्मुख ऐंद्रिक रूप में प्रस्तुत देते हैं। सूरदास इस कला के उस्ताद माने जाते हैं।

तोक्यो विश्वविद्यालय, जापान के एक विद्वान प्रोफेसर तकुशोकू ने सूरसागर की काव्यभाषा के अनुशीलन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है - सूरसागर के अंदर साहित्यिक भाषा संस्कृत और लोकभाषा ब्रज के बीच विशेष विरोध का न होना या, दूसरे शब्दों में, दोनों का समन्वय होना नीचे दी हुई प्रक्रियाओं से संभव हुआ होगा।

- (1) संस्कृत शब्दों को ग्रहण करने में सूरदास ने ऐसे शब्दों को प्राथमिकता दी जिनकी ध्वनि-व्यवस्था ब्रजभाषा की दृष्टि से सरल हो। अतः जहां तक इस वर्ग के शब्दों का संबंध है गृहीत संस्कृत तत्सम शब्द और ब्रजभाषा में कम अंतर आया है।
- (2) जब सूरदास जटिल ध्वनि व्यवस्था वाले संस्कृत शब्द ग्रहण करने को बाध्य हुए तो उन्होंने उन शब्दों को ब्रजभाषा के गठन के अनुरूप बदल दिया।

व्यंजन-गुच्छ युक्त तत्सम शब्द 'दुग्ध', 'हृदय', 'कृष्ण' आदि के बजाय दूध, हिय, कान्ह, कन्हैया, वीरह के प्रयोग ही सूरदास को भाते हैं। नँद, आँखि, नहिँ, भई, कुंवर, क्यों, मोकों जैसे प्रयोगों से स्पष्ट है कि सूर की भाषा में ध्वनिव्यवस्था की दृष्टि से आनुनासिकता की ही भरमार है। ब्रजभाषा के सभी व्यंजन सूर के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं - उदाहरण के लिए 'य' के स्थान पर 'ज', 'व' के स्थान पर 'ब', 'श' के स्थान पर 'स'।

सूरकाव्य में अरबी-फारसी की शब्दावली भरी पड़ी है। ब्रजभाषा ने इस शब्दावली को पचा लिया है; जैसे - अबीर, अमीर, खसम, जबाब, मुसाहिब, अकल, खबर, खरच, खवास, गुलाम, जमानत, जहाज, तलफ, दगा, सन्दूक, महल, फौज, जौहर, गुमान, दस्तक, सरदार, दीवान, मेहमान आदि।

क्रियाव्यापार की अभिव्यक्ति में सूर ने ब्रजक्षेत्र की रोजाना बोलचाल में रचे बसे ध्वन्यात्मक शब्दों का सार्थक उपयोग किया है - अरबराइ, कलमलात, किलकना, गहगहात, घहरानि, चटचटात, झुनझुन, धकधक, झपतार, झमकत, झमकिन आदि सैकड़ों शब्द सहज ही मिल जाते हैं। 'सूरदास' नाम से डॉ. हरबंस लाल शर्मा ने जिस पुस्तक का संपादन किया है, उसमें डॉ. कैलास चंद्र भाटिया का निबंध संकलित है। इस निबंध में सूर की भाषा पर विस्तार से विचार किया है। डॉ. भाटिया से भिन्न स्तर पर डॉ. मैनेजर पांडेय का विश्लेषण खास तौर पर उल्लेखनीय और पठनीय है। सूरदास पर लिखित अपनी पुस्तक में उन्होंने सूर की अभिव्यक्ति के स्वरूप की छानबीन करते हुए भाषा के बारे में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। कलात्मक स्तर पर सौंदर्यानुभूति की दृष्टि में सूर की काव्य भाषा की विशेषता पर उनकी टिप्पणी है- सूरदास रूपकप्रधान चिंतन के सहारे ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं और बिम्ब, प्रतीक, अन्योक्ति आदि की रचना भी करते हैं। इस पद्धति से काव्यभाषा में वाग्विदग्धता, उपचारवक्रता और अभिव्यक्ति के सौंदर्य का विकास हुआ है।"

छंद

सूरसागर के पदों में जहाँ भी वर्णन या कथा की प्रमुखता है, वहाँ दोहा, रोला अथवा रोला-दोहा का मिश्रित रूप तो मिलता ही है, दोहा-चौपाई के मिश्रण से निर्मित नवीन छंद रूपों का भी प्रयोग मिलता है। प्रगीतात्मकता अथवा गेयता के अनुरोध से छंदों के मिश्रित अथवा नये रूप उपयोग में लाये गये हैं।

जहाँ नाटकीय उतार-चढ़ाव वाले घटनाप्रसंग हैं, उदाहरण के लिए दानलीला आदि में, वहाँ रोला-दोहा का मिश्रित छंद मिलता है। पदरचना के अंत में दस मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर गेय पद को और भी मनोहर बना दिया गया है।

सूरदास ने दोहा और चौपाई छंदों में भावप्रवाह की रक्षा के लिए दोहा-चौपाई छंदों में भी जगह-जगह नये ढंग से परिवर्तन किये हैं। उदाहरण के लिए फाग और होली के वर्णनों में ब्रज लोकगीत और संगीत का सम्मोहक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अनेक स्थलों पर मात्राओं में परिवर्तन किये गये हैं। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि कदाचित् सूरदास ने ही सबसे पहले चौपाई की दो अर्धालियों के बाद 13 मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर एक त्रिपदी छंद का प्रयोग किया था। बाद में सूर के प्रयोगों की प्रभावोत्पादकता और मनोहारिता को देखकर राधा बल्लभ संप्रदाय के कवियों में खासकर सेवक जी, हरिराम व्यास, चतुर्भुज दास आदि ने इसका खूब प्रयोग किया।

दोहा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी का जातीय छंद मानते हैं। कृष्ण-काव्य परंपरा में इस छंद का अत्याधिक उपयोग सबसे पहले सूरदास ने ही किया था। सूरसागर में अनेक पद ऐसे हैं जिनमें सूक्तियों के रूप में मार्मिक वक्तव्य दोहा छंद में ही प्रस्तुत किया गया है। दोहे के कलात्मक उपयोग के प्रमाण के रूप में 'सूर पच्चीसी' की चर्चा की जाती है, चूंकि ये पच्चीसों दोहे अपने आप में एक स्वतंत्र काव्यखंड भी हैं और इसके एक-एक दोहे पृथक-पृथक भी अपनी सार्थकता रखते हैं।

सूरसागर में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, हरिगीतिका, अरिल्ल आदि का भी अनेक स्थलों पर कथा, भाव या संगीत के अनुरोध से उपयोग किया गया है।

सूरसागर में छंदों की विविधता है। गीतिकाव्य में नयी उद्भावनाओं के अनुसार छंदों के नये-नये प्रयोग कृष्णभक्त कवियों ने ही किये थे। सूरदास इस परंपरा के सूत्रधार और प्रवर्तक थे।

9.6.2 सूर काव्य का रूप विधान

सूरसागर अथवा महाकवि सूरदास के काव्य का रूपविधान क्या गीतिकाव्य जैसा है या प्रबंधकाव्य जैसा? अथवा इसमें दोनों का सह-अस्तित्व है? आभ्यंतरिक अभिव्यंजना और कथावाचन की शैली में वर्णनात्मकता - इन दोनों के जटिल संयोजन से सूरसागर की पदावलि का रूपविधान के विश्लेषण की दृष्टि से समालोचकों के लिए अभी भी गुत्थी बनी हुई है।

रामायण, महाभारत आदि की तरह अथवा रामचरितमानस के समान सूरसागर का कथानक सुसंगठित और सुसम्बद्ध नहीं है। महाकाव्य में कोई एक कथा होती है, उसका नायक होता है और घटनाओं का क्रम विकास होता है। अगर इस दृष्टि से देखें तो सूरसागर में भी एक कथा है, उसका नायक है और घटनाओं का आरोह-अवरोह भी है। पर मात्र इतनी समानता से सूरसागर को क्या हम महाकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं? नहीं, इसे हम महाकाव्य नहीं मान सकते। हिन्दी समालोचना में अभी तक किसी ने भी इसे प्रबंधकाव्य या महाकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसके पीछे मुख्य कारण है सूरसागर के कथानक की विश्रुंखलता। पर इस विश्रुंखलता के बावजूद इसमें कथाकृति का आस्वाद और उसकी सरसता आदि से अंत तक है। इसमें कथा का नियोजन सर्गबद्ध नहीं है; इसकी कथा कांडों में भी विभाजित नहीं है। इसकी कथा का ढाँचा पुराणों में निबद्ध संरचना का अनुसरण करता है - अर्थात् श्रीमद्भागवत के समान इसकी कथायोजना भी बारह स्कंधों में बँटी हुई है। ऊपर से देखने पर बारह स्कंध तो हैं, पर वास्तविकता में इसकी कथासंरचना लीलाप्रसंग का अनुसरण करती है। डॉ. मैनेजर पांडेय की दृष्टि में लीलाक्रम के अनुसार सूरसागर को सात भागों में बाँटा जा सकता है - (1) विनय के पद, (2) बाललीला, (3) वृन्दावन लीला, (4) माधुर्य लीला (अनुराग, चीरहरण, पनघटलीला, दानलीला, रासलीला और विरह लीला), (5) मथुरा लीला (6) द्वारिका लीला और (7) अवतार लीला। सूरसागर में कथारस का अव्याहत प्रवाह उसके कथानक की एकात्मकता का प्रमाण है। "अव्यावहत कथारस" और "प्रगीतात्मकता" - दोनों की उपस्थिति के कारण कुछ समीक्षक इसे "गीतात्मक महाकाव्य" की संज्ञा देते हैं। ऐसे समीक्षकों में उल्लिखित डॉ. मैनेजर पांडेय भी हैं। उनकी मान्यता है कि इसका महाकाव्यत्व इसके आकार में कम, इसकी आत्मा के रूप में अधिक है। अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण सूरसागर एक नये प्रकार का महाकाव्य है। यह साहित्य की शास्त्रीय परंपरा से स्वतंत्र लोकगीतों का संरचना के अनुसार रचित गीतात्मक महाकाव्य है।

9.6.3 सूर काव्य में प्रगीतात्मकता

सूरदास की ख्याति मुक्तक रचनाकार के साथ-साथ गीतकार के रूप में भी रही है। यह माना जाता है कि सूर के अधिकांश पद प्रगीतात्मक अर्थात् लिरिकल हैं। अंग्रेजी में काव्य के रूपविधान के विविध प्रकारों में लिरिक को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। रोमांटिक काव्यांदोलन के पहले भी अंग्रेजी में लिरिक या प्रगीत की रचना की गई थी, पर रोमांटिक कवियों द्वारा लिखित गीतों की कलात्मक विवेचना के बाद इसकी महत्ता क्रमशः बढ़ती गई है। हिन्दी के छायावादी काव्य की समालोचना के क्रम में प्रगीतात्मकता, आत्मपरकता और गेयता - इन तीनों काव्य-तत्त्वों की अक्सर चर्चा सुनायी पड़ती है। मध्यकाल के भक्तिगीतों, भजनों और कीर्तनों के कला-रूपों की पहचान की कोशिश में गीत या प्रगीत के रूपबंध की छानबीन की गई है और यह माना जाने लगा है कि सूर के अधिकांश पदों में गीतात्मकता है। ये गाये जाने के लिए रचे गये थे। इनमें भावानुभूति की गहरी आंतरिकता है।

दरअसल काव्य-बंध या रूपविधान का कोई सार्वकालिक, सार्वभौम, शाश्वत और सनातन स्वरूप नहीं होता है। हिन्दी में गीत जैसी काव्य-विधा अलग-अलग समय के विशिष्ट साहित्यिक-सामाजिक संदर्भों में अपना स्वरूप बदलती रही है। अन्य भाषाओं और बोलियों की लिखित या वाचिक परंपराओं से आदान-प्रदान के क्रम में भी गीत नामक इस कला-विधा ने भिन्न-भिन्न काल में नयी अभिव्यक्ति प्रणाली की तलाश की है। उदाहरण के लिए हम जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि की गीत परंपरा में ब्रजप्रदेश को अंदर विकसित गीतात्मक पदावली की सृजन प्रकृति की विवेचना कर सकते हैं।

सूर काव्य के रूपविन्यास के विश्लेषण की प्रक्रिया में यह बताया जाता है कि 'प्रगीत' की जो खास पहचान है, उस कसौटी पर सूर के पद खरे नहीं उतरते। यह उल्लेख किया जाता है कि प्रगीत में वर्णनात्मकता नहीं होनी चाहिए, कोई आख्यान या कथातत्व नहीं होना चाहिए। पर सूरसागर के अधिकांश पदों में वर्णनात्मकता के साथ-साथ कथातत्व भी है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने सूर काव्य के गीतित्व की व्याख्या करते हुए उल्लिखित गुथी को सुलझाया है। उनकी मान्यता है कि कृष्णकाव्य के बृहद आकार में ऐसा अंश भी है जिनके गीतिपदों में गीतिकाव्य के बहुत कम लक्षण मिलेंगे, जिनमें न तो कवि की गहन स्वानुभूति होगी, न भाव की संहति तथा जिनमें भावात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता ही अधिक होगी। स्वयं 'सूरसागर' में अनेक लम्बे और वर्णनात्मक पद हैं जिनमें घटना और इतिवृत्त की प्रधानता तथा भाव की न्यूनता और विश्रृंखलता है।

वस्तुतः ये पद गेय भी नहीं हैं और न वे कवि की किसी गहरी अनुभूति को ही व्यक्त करते हैं। परन्तु कृष्णकाव्य में गीतिपदों की लोकप्रियता और सफलता का ही यह एक प्रमाण कहा जाएगा कि वर्णनात्मक कथा प्रसंगों को भी गीतिपदों की शैली में रचा गया है।

कृष्णकाव्य के गीतिपदों की अंतिम किंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें स्वानुभूतिमूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्णकाव्य के अनेक प्रसंगों का प्रायः क्रमबद्ध रूप में वर्णन मिलता है। 'सूरसागर' में गोपाल कृष्ण की संपूर्ण कथा प्रायः पदों में ही गाई गई है। जैसा कि पीछे कहा गया है, 'सूरसागर' के गीतिपदों में वर्णित संपूर्ण कृष्णलीला में एक सामान्य कथानिबद्ध प्रबंधात्मकता अपने पूर्ण रूप में है। उसके अंतर्गत विशिष्ट कथानकों को गीतिपदों की शैली में ही और अधिक सुसंबद्धता और पूर्वापर प्रसंग-संदर्भ के साथ रचा गया है; यहाँ तक कि उन्हें प्रसंग से भिन्न करके समझने में प्रायः भूल हो सकती है, और फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन पदों में भी गीति तत्व प्रायः अक्षुण्ण रहा है। कृष्णकाव्य की यह अतुलनीय विशेषता है कि उसमें प्रबंध और गीति के परस्पर विरोधी लक्षण एकाकार हो गये हैं।

काव्य के पुराने प्रचलित रूप-विधानों में महान कृतिकारों की सर्जना शक्ति और उनकी नई उद्भावनाओं से परिवर्तन होते रहे हैं। प्रगीत के स्वरूप और रचनातंत्र में सूरदास तथा अष्टछाप के अनेक रचनाकारों ने ऐसा ही परिवर्तन किया है। संभवतः इसीलिए डॉ. मनमोहन गीतम ने अपने निबंध 'सूर के गीतिकाव्य का स्वरूप विश्लेषण' में यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी "गीतपद्धति अनेक तात्विक विरोधों का सहज समन्वय है।" उनका तर्क है कि सूर का समस्त काव्य राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है और चूँकि ये वर्णन राग-रागिनियों में ढले हुए हैं, अतः इन्हें हम वर्णनात्मक गीतिकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं। इन गीतों में भक्त सूरदास का आत्मनिवेदन कभी प्रत्यक्ष रूप में और

कभी कृष्ण-कथा के भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्त होता है। अतः इन प्रगीतों में भक्त सूरदास की आत्माभिव्यंजना भी तीव्रतर रूप में व्यक्त हुई है। डॉ. मनमोहन गौतम सूरदास के प्रगीत कौशल की व्याख्या करने के कम में यह उल्लेख करते हैं सूर के पदों में रागात्मक अन्विति का सफलतापूर्वक निर्वाह मिलता है। उन्हीं के शब्दों में - रागात्मक अन्विति गीतिकाव्य की धुरी है। पद में एक ही भाव आदि से अंत तक विद्यमान रहता है। इसी अन्विति के कारण गीत अपने में सर्वथा पूर्ण होता है। पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं होती - गीत की अन्विति तभी श्रेष्ठ होती है जब उसमें विचारों की बौद्धिकता एवं इतिवृत्तात्मकता का अभाव हो। सूरदास जी के गीतों में भाव और स्वरो की संगति प्रायः प्राप्त होती है।

आत्माभिव्यंजना या आत्मपरकता, एक भाव की अन्विति तथा गेयता - इन तीन तत्वों के कारण सूरदास के गीत लोकप्रिय हुए हैं। पर सूरकाव्य की प्रगीतात्मकता के विवेचन के कम में संगीतज्ञ सूरदास के गायन और वादन को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। "सूरकाव्य में शब्द और स्वर की समवेत परम्परा" शीर्षक डॉ. अम्बाशंकर नागर के निबंध में बताया गया है कि सूर ऋक्छुटि के संगीतज्ञ थे। उन्होंने पदों की रचना राग-रागिनियों एवं तालों के आधार पर की थी। वे कीर्तनिये थे। पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति में अष्टयाम सेवा एवं कीर्तन का विशेष विधान है। सूर ने विशेष तथा संकीर्तन के हेतु ही विभिन्न रागिनियों एवं तालों में श्रीकृष्ण की लीलाओं के ध्रुवपदों की रचना की थी।

डॉ. नागर का अनुमान है कि बहुत प्राचीनकाल से काव्य और संगीत की समवेत परंपरा चली आ रही थी। सूरदास उसी पुरानी परंपरा की एक मजबूत कड़ी थे, चूँकि उनके कृतित्व में काव्य और संगीत का समागम है। भक्तिकाल के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने भी काव्य और संगीत के गहरे संबंधों की पड़ताल की है। "भारतीय साहित्य की भूमिका" नामक अपनी नई पुस्तक में उन्होंने "संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण की समस्याएँ" नामक एक लम्बा अध्याय लिखा है। इसी में 'ध्रुवपद और सूरदास' शीर्षक एक छोटी सी टिप्पणी भी है। चार पंक्तियों के अक्षरप्रधान गीत ध्रुवपद के रूप में सूरदास द्वारा गाये जाते थे। रामविलास शर्मा ऐसे गीतों के नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत के एक प्रकार अर्थात् ध्रुवपद के रूप में अविस्मरणीय महत्व की चीज़ मानते हैं। उनकी टिप्पणी है - मुख्य बात यह है कि सूरदास के लिए गायन, वादन और नृत्य - तीनों संगीत की समन्वित इकाई हैं।

सूर की पदावली अथवा उनके प्रगीतों में संगीत तत्व की उपस्थिति पर रामचंद्र शुक्ल का भी ध्यान गया था। उन्होंने कहा था - सूर की रचना जयदेव और विद्यापति से गीतकाव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौंदर्य या माधुर्य का भी इस-परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे या संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।

भक्तिकाल में लिखे जाने वाले प्रगीतों में गेयता को एक अनिवार्य अवयव के रूप में स्वीकार किया जाता था। अतः सभी भक्त कवियों के गीत संगीत की स्वरलहरी में ढाल कर रचे गये हैं। प्रगीत रचना की दृष्टि से सूरदास के गीतकाव्य के स्वरूप निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान सूरपूर्व ब्रजभाषा के कवियों का है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णलीला विषयक पदों के रचयिताओं में निम्बार्क संप्रदाय के तीन कवि - श्री भट्ट (सं. 1352 वि.), हरिव्यास देवाचार्य (सं. 1320 वि.) और परशुराम देव (सं. 1450 वि.) उल्लेखनीय हैं। सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्यपरंपरा पर अपने शोधग्रंथ में डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने उल्लिखित कवियों के अतिरिक्त विष्णुदास का भी उल्लेख किया है जिन्होंने सूरदास से पचास साल पहले ही राग-रागिनियों में निबद्ध पदों की रचना की थी। इसके अलावा ब्रजक्षेत्र के ग्रामगीतों और लोकगीतों का भी सूर पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इन ग्रामगीतों और लोकगीतों में लीलापदावली और रासलीला की नृत्यगायन परंपरा का प्रभाव विभिन्न रूपों में आकर मिश्रित हो गया होगा - ऐसा अनुमान क्षितिमोहन सेन और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है। रासलीला के नृत्य-क्षण में गाये जाने वाले ध्रुवपदों की रचना सूरदास ने की थी। शरदोत्सव में रासलीला के गीत, झूलन प्रसंग में झूले के गीत, पावस ऋतु में सावन भादो के गीत, वसंतोत्सव, फाग, होली आदि के गीत सूरसागर में भरे पड़े हैं। चांचर, झुमका, होरी, घमार, के गीतों के माध्यम से प्रेमोन्मत्त गोप-गोपियों के दृश्यचित्र भी सूरसागर में विविध रूपों में आये हैं। इनके अलावा कृष्ण जन्मोत्सव के समय के बर्धाई गीत, सोहिलौ, मंगलगीत, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ कर्णछेदन आदि के संस्कारगीत भी सूरसागर में हैं। पर्व त्योहारों में

गोर्वधन पूजा, दीपमालिका, अन्नकूट आदि के गीतों से ब्रज लोकसंस्कृति की बहुरंगी छवि अंकित होती है।

भक्ति आंदोलन के संदर्भ
में सूर काव्य का महत्व

श्री नाथ जी के मंदिर में प्रातः काल के जागरण से लेकर रात्रि काल के विश्राम तक अष्टयाम कीर्तन गीत गाये जाते थे - उनके साथ वाद्यसंगीत की भी व्यवस्था थी। ये कीर्तन गीत राग-रागिनियों में निबद्ध होते थे। बौद्धों के महायान पंथ के साथ सामूहिक कीर्तन की प्रथा आरंभ हुई। बाद में चैतन्य महाप्रभु ने इसे उत्तर भारत में व्यापक रूप से फैलाया। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में कीर्तनसेवा को विशेष महत्व प्रदान किया गया था और सूरदास को खास तौर पर इसी कार्य के लिए मंदिर में नियुक्त किया गया था। सूरसागर में ऐसे सैकड़ों पद हैं जो मूलतः श्रीकृष्ण की लीला का कीर्तन करती हैं - कहीं आख्यान के रूप में, कहीं वर्णन के रूप में, कहीं स्तुति के रूप में। कीर्तन गीतों में एक ही स्थिति या लीला के वर्णन में आवृत्ति भी होती है। डॉ. सत्येन्द्र तो संपूर्ण सूरसागर को "कीर्तनकाव्य" की संज्ञा देते हैं। कथा कहने के लिए सूरदास प्रायः बिलावल राग में कीर्तन गाते थे। इससे स्पष्ट है कि सूर की काव्य रचना में संगीत कितना निर्णायक महत्व रखता था।

सूर के पद नृत्य की गति और स्वरलहरी का अनुसरण करते हैं। सूरसागर में रासलीला के अनेक पद हैं। रासनृत्य मंडलाकार होता है। उसमें नर्तकी की प्रधानता होती है। रासनृत्य के बीच कोई गीत भी गाया जाता है और मंडलाकार नर्तक-नर्तकी समूह के बीच केंद्र में राधा और कृष्ण की उपस्थिति होती है। रास के साथ उससे मिलता-जुलता हल्लीसक नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। बाद में रासनृत्य का ही यह भी एक प्रकार माना जाने लगा। रासलीला में गाना, नाचना और विभिन्न प्रकार के बाजे का बजना - एकसाथ होता था। सूरसागर के रासलीला संबंधी पद नृत्य की सुसंगति में रचे गये थे - ये पद सिर्फ गाने के लिए नहीं होते थे; नृत्य के बीच गाने के लिए होते थे। उदाहरण के लिए 'नृत्यत स्याम नाना रंग' या 'विराजत मोहन मंडल रास' जैसे गीतों को इस संदर्भ में पढ़ा जा सकता है।

9.7 सारांश

इस इकाई में आपने भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य के महत्व की जानकारी प्राप्त की। इसमें आप सूर के जीवन, रचना, रचना वैशिष्ट्य और भाषागत विशिष्टता से परिचित हुए। उनकी कविता में ब्रज की लोक संस्कृति बोलती प्रतीत होती है। उनकी कविता गीतों में ढली है। अपने आराध्य कृष्ण की उपासना के लिए सूर ने ये पद गाकर रचे थे। इसलिए इसमें नृत्य, रास, वाद्यसंगीत, गायकी और ब्रज लोकगीत का गहरा प्रभाव है। बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में नया जागरण और कलात्मक उत्कर्ष आया जिसमें सूरदास का योगदान महत्वपूर्ण है। श्रीनाथ जी के मंदिर में अष्टछाप के कवि गायक ध्रुवपद, घमार शैली में गीत कीर्तन करते थे। सूरदास ऐसे भक्त कवि थे जिसके इष्टदेव के दरबार में जातपाँत के आधार पर कोई भेदभाव न था। यही वह लोकसामान्य भावभूमि थी जिनपर सभी भक्त कवियों की सहमति थी। निर्गुण और सगुण को लेकर भक्त कवियों में असहमति थी और सूर ने तो निर्गुण पर सगुण की श्रेष्ठता जतलाने के लिए ही भ्रमगीत प्रसंग की रचना की। सूर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी, जिसमें कृष्ण के प्रति समर्पण ही सबकुछ था।

9.8 अभ्यास/प्रश्न

- (1) भक्ति आंदोलन में सूर का महत्व स्थापित कीजिए।
- (2) सूरदास की काव्यात्मक उत्कृष्टता के प्रमुख आधारों की चर्चा कीजिए।
- (3) सूर काव्य की भाषा पर विचार कीजिए।
- (4) सूरदास का काव्य साहित्य और संगीत के समागम का उत्तम उदाहरण है। इस कथन से आप कहां तक सहमत/असहमत हैं। युक्तिपूर्ण उत्तर दीजिए।